

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

व्यावहारिक-तपोयोग-प्रकरणम्

तृतीयेऽह्नि पुनर्ब्रह्मविद्यासत्रं तथैव तत्।

स्वस्तिवाचनपूर्वं च प्रारब्धं समभूदथ ॥ १ ॥

दिनस्यास्य जरत्कारुमुख्यो जिज्ञासुराह तम्।

मनीषिमानितः सत्राध्यक्षं वाग्मी मुनिः स्वयम् ॥ २ ॥

टीका—तीसरे दिन का ब्रह्मविद्या सत्र पुनः अपने नियत समय पर प्रारंभ हुआ। स्वास्तिवाचन जैसे मंगलाचरण के साथ शुभारंभ किया गया। इस दिन के प्रमुख जिज्ञासु की भूमिका निभाते हुए मनीषियों में मूर्द्धन्य और विवेचकों में प्रख्यात मुनि जरत्कारु ने सत्राध्यक्ष से पूछा ॥ २-३ ॥

जरत्कारुरुवाच—

भवता बोधितं रूपं दुरुहायास्तु देव! नः।

आत्मोत्कर्षं विधायिन्याः साधनाया जनानुगम् ॥ ३ ॥

उदेति च मनस्येकः प्रश्नो यच्छास्त्रसंमतौ।

असंभवा मता योगसाधनाया विना तथा ॥ ४ ॥

तपः शक्तेर्विना ह्युच्च लक्ष्यप्राप्तिरिह प्रभो।

तपोयोगस्वरूपं किं सुलभमात्मसाधकम् ॥ ५ ॥

कृपया विस्तरेणैतद् बोध्यतां लोकमंगलम्।

श्रुत्वा प्रश्नं प्रहृष्टश्च याज्ञवल्क्योऽगादीत्ततः ॥ ६ ॥

टीका—जरत्कारु बोले, हे देव आपने गहन और दुरूह समझी जाने वाली आत्मोत्कर्ष की साधना का जन सुलभ स्वरूप समझाया। यहाँ एक प्रश्न और मन में उठ रहा है कि शास्त्रमतानुसार तप की शक्ति और योगसाधना के बिना उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव कही गई है। आत्मसाधना को सफल बनाने वाले जनसुलभ तप और योग का स्वरूप क्या हो सकता है? कृपया इसे हमें विस्तारपूर्वक समझाएँ। याज्ञवल्क्य जी प्रश्न सुनकर पुलकित हो उठे और बोले ॥ ३-६ ॥

यहाँ जरत्कारु महर्षि जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि अध्यात्म विज्ञान के इतिहास में उच्चस्तरीय उपलब्धियों के लिए आदर्शों के समुच्चय ईश्वर से जुड़ना और तप साधना का अवलंबन ही एकमात्र विधान उपचार है। उसके बिना लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं।

दृष्टि पसारकर प्रगतिशील महामानवों सिद्धपुरुषों की रीति-नीति का पर्यवेक्षण करके यह जाना जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन में तपश्चर्या के प्रचंड पुरुषार्थ से अनेकानेक दिशाओं में प्रगति किया और ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी, यशस्वी बने। यह तप की ही गरिमा है। पौराणिक गाथाओं में स्पष्ट है कि तपस्वी और योगी ही चमत्कारिक वृद्धि-सिद्धि प्राप्त करने और ऋषि कल्प देवात्मा बनने में सफल हुए हैं। महामानवों एवं ऋषियों-अवतारी पुरुषों की अगणित गाथाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं। शिव स्वयं योगारूढ़ एवं निरंतर जप रत रहते थे। उनके वरदान तपस्वी होने की शर्त पर ही किसी को मिलते हैं। तप की महिमा महान है।

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति

एक बार भृगु ने अपने पिता वरुण के निकट जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिए।

वरुण ने उत्तर दिया हे भृगु जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अंत में जिसमें विलीन हो जाते हैं, तू उस ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। उस अविनाशी ब्रह्म को तप और योग साधना द्वारा ही जाना जा सकता है। पिता के आदेशानुसार पुत्र ने उस ब्रह्म को जानने के लिए तप आरंभ कर दिया। दीर्घकालीन तप के उपरांत भृगु ने अन्नमयकोश स्थूल शरीर में फैली ब्रह्म की विभूति को जान लिया और वह पिता के पास पहुँचे।

वरुण ने भृगु से फिर कहा, तप सो ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति अर्थात् हे पुत्र तू तप करके ब्रह्म को जानने का प्रयत्न कर क्योंकि ब्रह्म को तप द्वारा ही जाना जाता है।

भृगु ने फिर तपस्या की और प्राणमय जगत की विभूति को जान लिया और फिर वह पिता के पास पहुँचे। वरुण ने फिर उन्हें तप करने का आदेश दिया। पुत्र ने पुनः कठोर तप किया और मनोमय कोश की विभूतियों का अभिज्ञान प्राप्त किया। पिता ने उन्हें फिर तप में लगा दिया। अब भृगु ने विज्ञानमय जगत की विभूति को प्राप्त कर लिया और फिर वरुण जी के पास पहुँचे। पिता ने पाँचवी बार भी तप में ही प्रवृत्त किया और भृगु ने उस आनंदमयी विभूति को भी

उपलब्ध कर लिया और जाना कि आनंद ही ब्रह्म है।

तपश्चर्या की तपबल की चमत्कारी शक्ति के फलितार्थों का धर्मशास्त्रों और आप्त वचनों में विशद् वर्णन विवेचन किया गया है।

शास्त्रमत

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंद नवमें अध्याय में भगवान ने अपने निज रूप का परिचय देते हुए कहा है तपो में हृदयं साक्षादात्माहि तपसो हि वै।

अर्थात् तप मेरा प्रत्यक्ष हृदय है और मैं भी तप का हृदय हूँ। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

आगे इस तथ्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं।

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।

विभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥

अर्थात् मैं इस समस्त विश्व को तप के सहारे उत्पन्न करता हूँ। तप के द्वारा ही अंत में इसे आत्मरूप में विलीन कर लेता हूँ। विश्व का परिपोषण मैं तपोबल से ही करता हूँ। मेरी अद्भुत तप सामर्थ्य तप में ही केंद्रभूत है।

श्रीमद्भागवत के आगे विवरण में अग्नि, ब्रह्मा, वायु आदि देवताओं का उल्लेख है। जिनके अपने लिए कर्तव्य और साधन संबंधी प्रश्न पूछने पर परब्रह्म ने एक ही उत्तर दिया है कि तपं तपस्य अर्थात् तप की तपस्या करो। इसी से शक्ति उत्पन्न होगी। शक्ति के बलबूते ही व्यक्तित्व प्रखर होता है। क्षमताओं का स्रोत खुलता है और उसी के सहारे सहजता से कठिन काम संपन्न होते।

उपनिषद्कार कहता है—

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।

उसने तप किया, कष्ट सहा तब ही यह सृष्टि बनी। तप ही दुःख रूप में जगत में विद्यमान है। नवीन सृजन की वेदना माँ जानती है। तप का ताप मनुष्य के अंतःकरण में नए-नए रूप में नए प्रकाशों को अवतरित करता है। यह तपस्या आनंद का ही एक अंग है। इसीलिए ऋषि कहता है कि आनंद के सिवा, सृष्टि के इतने बड़े दुःख को कौन वहन कर सकता है। कोह्येवान्यत् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्। देशभक्त देश के लिए जब प्राण त्यागता है तो उसके लिए वह वेदना नहीं परम आनंद है। ज्ञानी की ज्ञान प्राप्ति प्रेमी की प्रिय साधना, भक्त का इष्ट मिलन इसी तरह की साधना है।

देवर्षि नारद जी का कथन है कि तपश्चर्या में असीम शक्ति है। वह होनहार को भी मिटा सकती है। हिमवंत के यहाँ शैलसुता के सुलक्षणों को देखकर नारद जी कहते हैं।

जो तपु करै कुमारि तुम्हारी।

भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

करै सो तपु जेहि मिलहिं महेसू।

आन उपायँ न मिटहिं कलेसू॥

मानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं

तपु सुख प्रद दुख दोष नसावा॥

याज्ञवल्क्य उवाच

मान्या! जन्मान्तरस्थैस्तैः कुसंस्कारैरथैहिकैः।

कुकृत्यैः प्रतिकूलाभिवृत्तिभिर्हेयपूरुषैः ॥७॥

सह योगैरधोगामिप्रवाहो लौकिकस्तु यः।

तस्य हेतो रतो मर्त्यः कुकृत्येऽचिन्त्यचिन्तने॥८॥

अस्मादेव भवत्यत्र चक्रव्यूह - विनिर्मितिः।

भवबंधन - शब्देन कीर्त्यते या तु भूतके॥९॥

भक्तुं कुचक्रमेतत्तु शारीरं मानसं तथा।

प्रखरत्वं समुत्पाद्यं तपश्चर्याऽर्ज्यमुज्ज्वलम्॥१०॥

प्रथमः प्रमुखः पन्था आत्मिक्याः प्रगतेर्मतः।

तपश्चर्या, कुसंस्कारान् सञ्चितान् बलपूर्वकम्॥११॥

विरुणद्धि नरो यत्तत्तपः साधनमुच्यते।

प्रथमः चरणः प्रोक्त आत्मिक्याः प्रगतेरयम्॥१२॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे मनीषियो जन्म-जन्मांतरों के कुसंस्कार, इसी जन्म के किए कुकृत्य, अनुपयुक्त वातावरण हेयस्तर के व्यक्तियों का सान्निध्य एवं अधोगामी लोकप्रवाह के कारण मनुष्य अचिंत्य चिंतन में निरत होकर कुकृत्य करने लगते हैं। इसका एक भयावह चक्रव्यूह बनता है, इसी को भव-बंधन कहते हैं। इस कुचक्र को तोड़ने के लिए मानसिक एवं शारीरिक प्रखरता उत्पन्न करनी पड़ती है। इस प्रखरता का उपार्जन तपश्चर्या से होता है। अस्तु आत्मिक प्रगति का प्रथम एवं प्रमुख मार्ग तपश्चर्या माना गया है। संचित कुसंस्कारों का हठपूर्वक क्रियात्मक विरोध करने का नाम तप साधना है। इसे आत्मिक प्रगति का प्रथम चरण कहा गया है॥७-१२॥

मानव जीवन बहुमूल्य है, पर जो उसका मूल्य और स्वरूप नहीं समझते, वे भोग परायण व्यक्ति दुश्चिंतन में निरत रहते और दुष्कर्म करते रहते हैं। शरीर से मनुष्य होते हुए भी उनके गुण, कर्म, स्वभाव में प्रशु प्रवृत्तियों की निकृष्टता की भरमार होती है। यह पशु प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के पतन और विनाश का कारण बनती हैं। वासना, तृष्णा और अहंता को भवसागर कहा गया है। अनगढ़ और भोगपरायण मनुष्य इसी में डूबते उतराते रहते हैं। लोभ को हथकड़ी, मोह को बेड़ी और गर्व को तौक कहते हैं। यही भवबंधन है। जीव इन्हीं से बँधा रहता है, सामान्य जनों की यही गति है। महत्वाकांक्षा, ऐषणा एवं इंद्रियजन्य लिप्सालोलुपता से घिरा मनुष्य अभीष्ट सफलता प्राप्त करने के लिए औचित्य मर्यादा का उल्लंघन करके उद्धत कर्म करता, आतंक जमाता और जो भी संभव है, उसे न्याय-अन्याय का भेद किए बिना कर

५.२२ प्रज्ञोपनिषद्

गुजरता है। आत्म-विस्मृति के कारण मनुष्य प्रत्यक्ष शरीर को ही सब कुछ मान बैठता है और उसी के तथाकथित मनोरथों की पूर्ति में मरता खपता रहता है और सिर पर कुकृत्य जन्म पापों का बोझ सिर पर लादे इस संसार से विदा होता है।

यह जीवन का वह स्वरूप है जो सीमित दृष्टिकोण में दिखता तो शरीर तक ही सीमित है पर कषाय-कल्मषों की अमिट छाप संस्कारों के रूप में सूक्ष्म मनःसंस्थान पर अंकित होती रहती है। संचित कुसंस्कारों की परतें चट्टान जैसी कठोर होती हैं। उन्हें तोड़े बिना पथरीली जमीन में कुआँ खोदना और शीतल जल प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता।

यहाँ ऋषि कहते हैं कि भवबंधनों से मुक्ति पाने और संचित कुसंस्कारों के कुचक्र को तोड़ने के लिए प्रखरता उत्पन्न करनी पड़ती है। अनुपयुक्तता के विरुद्ध संघर्ष करना होता है। असंयमी, कुसंस्कारों से जूझना और अपने अनगढ़ स्वभाव के विरुद्ध संघर्ष करना होता है। यह साधना का महत्वपूर्ण पक्ष है। अध्यात्म विज्ञान में इस उपचार प्रक्रिया को तपश्चर्या कहा गया है।

तप का अर्थ है, तपाना-गरम करना। भूमि से निकले मिट्टी मिले लोहे को भट्टी में पकाकर शुद्ध किया जाता है तब उसकी स्थिति औजार, उपकरण बनाने जैसी बनती है। अन्य धातुओं का शोधन भी अग्नि संस्कार से ही होता है। पकाने के बाद ही ईंट चिरस्थायी बनती है। पानी से भाप बनता और उससे रेलगाड़ी जैसा विशाल तंत्र पड़ना यह सिद्ध करता है कि तपाने से उत्पन्न की गई गरमी क्या-क्या चमत्कार उत्पन्न करती है।

व्यक्ति की सामर्थ्य भी तपश्चर्या के आधार पर ही उभरती है। अग्नि की उष्णता से संसार के सभी पदार्थ जल, बदल या गल जाते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें अग्नि का संसर्ग होने पर भी परिवर्तन न होता हो। तपस्या की अग्नि भी ऐसी ही है। वह पापों के समूह को संचित-कुसंस्कारों को जलाकर भस्म कर देती है। कुसंस्कार, कुटेव, कुविचार एवं कुकर्म से छुटकारा पाने के लिए तपश्चर्या एक रामबाण अस्त्र है। तप एक भावनात्मक पुरुषार्थ है। व्यावहारिक जीवन में इसे संकल्पनिष्ठ संयम भी कहा जाता है। इसके चार स्तर हैं इंद्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम के नाम से जाने जाने वाले तप संयम को अपनाकर कोई भी महानता के पथ पर अग्रसर हो सकता है और दिव्य क्षमताओं विभूतियों का स्वामी बन सकता है।

चिन्तनस्य चरित्रस्य गरिष्णो दायिनीं सदा।

उत्कृष्टतां प्रतिष्ठां स्वां मन्यमाना मनस्विनः ॥ १३ ॥

साधना - सफलाः संति प्रलोभन - विवर्जिता।

अवरोधदृढास्त्याज्यैर्योद्धारस्तु तपस्विनः ॥ १४ ॥

तपस्विनोऽनिवार्य हि युद्ध्येत स्वयमात्मना।

अभ्यस्त - प्रकृतीर्युक्ता गतीश्च परिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

अत्रकाठिन्यमायाति ततः कष्टान्यनेकशः।

पूर्वाभ्यासे तु सह्यानि तितिक्षेयं निगद्यते ॥ १६ ॥

टीका—चिंतन और चरित्र की गरिमा बनाए रहने वाली उत्कृष्टता को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाए रहने वाले मनस्वी ही साधना में सफल होते हैं। प्रलोभनों और दबावों के आगे न झुकने वाले अवांछनीयता के साथ असहयोग-विरोध का शस्त्र सँभाले रहने वाले तपस्वी कहलाते हैं। तपस्वी को अपने आप से लेड़ना पड़ता है तथा अभ्यस्त आदतों और गतिविधियों को उलटना पड़ता है। इसमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हीं का पूर्वाभ्यास करने के लिए कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसे तितिक्षा कहते हैं ॥ १३-१६ ॥

यहाँ ऋषि कहते हैं कि मनस्वी अर्थात् सत्प्रयोजनों के निमित्त सुनिश्चित संकल्प करने और उसे पूरा करने के लिए साहसिक पराक्रम दिखाने वाले सचरित्र व्यक्ति ही साधना में सफलता प्राप्त करते हैं। मनस्वी ही तपस्वी होते हैं। मनस्विता एक ऐसी विभूति है जिसके सहारे ही कोई महत्वपूर्ण कार्य संपादित हो सकता है। इसके अभाव में मात्र विडंबना ही हाथ लगती है। मनोबल बढ़ाने का साहस जगाने का पराक्रम उभारने का प्रगतिशील मार्ग अपनाने वाले तपस्वी को अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए संघर्षरत होना पड़ता है। रगड़ने से ही गरमी उत्पन्न होती है और उत्पादित ऊर्जा के सहारे ही शक्ति याँ उभरती और गतिशील होती हैं। मजबूती भी उसी से आती है प्रखरता भी। जनरेटर इसी प्रक्रिया के सहारे बिजली उत्पन्न करते हैं। व्यक्तित्व को तपाने के लिए जिस ऊर्जा की आवश्यकता होती है, वह प्रतिरोध से ही उत्पन्न होती हैं। इसके लिए ऐसी रीति-नीति अपनानी पड़ती है जिसमें कठिनाइयों से जूझना पड़े। ऐसे दुस्साहस भरे कामों में हाथ डालना पड़ता है जो न केवल कष्ट साध्य होते हैं वरन जोखिम भरे भी होते हैं। इसके लिए असंयम के छिद्रों को बंद करना पड़ता है और अस्वाद व्रत से लेकर उपवास, ऋतु प्रभाव का सहन एवं कायाकष्ट सहन की तितिक्षा का पूर्वाभ्यास करना पड़ता है जिससे तप निर्धारण के मार्ग में स्वभावगत ढर्रे के साथ जूझने का उस मार्ग के व्यवधानों से निपटने की आदत बनी रहे।

तितिक्षा अभ्यास है और तप उद्देश्यपूर्ण व्रतधारण। दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं। तलवार पर धार रखने के लिए उसे घिसा जाता है। कच्ची धातुओं से बहुमूल्य उपकरण बनाने के लिए उनका परिशोधन भट्टी के अतिरिक्त और किसी उपाय से संभव नहीं। मनुष्य कितना विवेकवान, सिद्धांतवादी, चरित्रनिष्ठ और संकल्पवान है, इसकी परीक्षा

प्रतिकूलताओं, असुविधाओं और विपत्तियों में से गुजरकर इस तप प्रतीक्षा में पककर ही हो पाती है।

विज्ञाः प्रगतिमार्गे च यातुमग्रे य उच्यते।
अनिवार्यः प्रयासः स कथितो योगसाधना ॥ १७ ॥
योगः स आत्मसत्तायाः संयोगः परमात्मना।
प्रकृत्याकांक्षया यश्च सञ्चितस्तु समुच्चयः ॥ १८ ॥
आदर्शवादिनी या सा कथितोत्कृष्टता तथा।
सम्बन्धं पुंभिरिष्येत क्रमात् संबद्धतोर्जिता ॥ १९ ॥
स्वार्पणस्य सुभावस्तु चलतीष्टं यदा महान्।
क्षुद्राहं त्वलयः कार्य औत्कृष्ट्येमहतस्ततः ॥ २० ॥
उक्ता परिणतिश्चास्य जीवन्मुक्तौ तथैव च।
लक्ष्य-प्राप्तौ पूर्णतायामीशप्राप्तौ च निश्चिता ॥ २१ ॥
सदा परमहंसास्तु तिष्ठन्त्यस्यां स्थितौ बुधाः।
समाधिकालयुक्तायां देवत्व - परिवाहिनः ॥ २२ ॥

टीका—हे विज्ञजनों प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए जिस दूसरे प्रयास को अनिवार्य माना गया है उसका नाम योग साधना है। आत्मसत्ता को परमात्मा के साथ जोड़ना योग है। इसमें आकांक्षाओं और आदतों के संचित समुच्चय को आदर्शवादी उत्कृष्टता के साथ संबद्ध करना पड़ता है। यह संबद्धता क्रमशः बढ़ती है तो इष्ट के प्रति आत्मसमर्पण की उमंग उठती है। तब क्षुद्र अहंता का विलय-विसर्जन महान की उत्कृष्टता में करना पड़ता है। इसी की परिणति जीवनमुक्ति लक्ष्यप्राप्ति पूर्णता एवं ईश्वर प्राप्ति के रूप में होती है। परमहंस इसी समाधि अवस्था में रहते हैं और देवत्व को वहन करने वाले देववाहन बनते हैं ॥ १७-२२ ॥

यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मोत्कर्ष के लिए तपश्चर्या के बाद जिस दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है उसे योग कहते हैं। चेतना के भावपक्ष को उच्चस्तरीय उत्कृष्टता के साथ एकात्म कर देने का नाम ही योग है। यह आस्थाओं, आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों का परिष्कार है। इसके लिए वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियों पर अधिकार पाना होता है। योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। वृत्तियों के निरुद्ध होने से चित्त एकाग्र ही नहीं होता वरन् पूर्णतया आत्मस्थ हो जाता है और आत्मा का परमात्मा के साथ योग मिलन हो जाता है।

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देने का तात्पर्य है क्षुद्रता को महानता के साथ, कामना को भावना के साथ, स्वार्थ को परमार्थ के साथ बाँध देना, बदल देना और तदनुसार बना देना। समर्पण इसी उच्चस्तरीय भूमिका का नाम है। विलय-विसर्जन, समन्वय समापन शरणागति उसी के दूसरे पर्याय हैं। इस आरंभ की पूर्णाहुति जीव और ब्रह्म के साथ

पूर्ण एकता स्थापित होने से होती है। इसी स्थिति को अद्वैत कहते हैं।

चेतना के विराट समुद्र में जीव बिंदु का विसर्जित होना सायुज्य है। यही परम पद की प्राप्ति है। व्यष्टि जीव सत्ता का समष्टि ब्राह्मी सत्ता में विसर्जित होना ही प्रभु समर्पित जीवन है। ईंधन आग की, नदी नाले की, दूध जल की, दीप पतंग की उपमा इसी स्थिति के लिए दी जाती है। व्यक्ति अपने स्वार्थ की परिधि से निकल जाता है मन-मस्तिष्क में एकमात्र परमार्थ छाया रहता है। अहंता शरीर, परिवार तक सीमित न रहकर सोहम् शिवाहम्, सच्चिदानंदोहम्, तत्त्वमसि, अयमात्मा, ब्रह्म, शुद्धोसि, बुद्धोसि, निरजयेसि की स्थिति में पहुँच जाती है। अपनी सत्ता सबमें और सब अपने में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। वसुधैव कुटुंबकम् आत्मवत् सर्वभूतेषु की अनुभूति इसी स्तर पर पहुँचने में होती है। योग की सिद्धावस्था यही है, परमपद जीवन मुक्ति इसी का नाम है।

इसी स्थिति को परमात्मा की प्राप्ति, कैवल्य पद पाना, जीव का ब्रह्म होना और आत्मा का परमात्मा बन जाना कहा गया है। इस स्थिति में ही शास्त्रकार ने कहा है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

—योग १ / ३

अर्थात् तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है।

योगाभ्यासस्य रूपे च क्रियाः कृत्यान्वनेकधा।

स्वीकार्याण्यस्ति येषां च प्रयोजनमिदं मतम् ॥ २३ ॥

ससीम्नोऽसीम्नैकैकात्त्यं यत्तस्यैवमनोभुवः।

निर्मितिः क्रमरूपेण केवलं तु महर्षयः ॥ २४ ॥

पूरकौ तु तपोयोगौ विनैकं नहि पूर्णता।

तपोयोगौ प्रक्रिये स्तः सामान्यं जन जीवनम् ॥ २५ ॥

उत्कृष्टकारिके सर्वसुलभे सार्वलौकिके।

योगे स्वत्वं समर्प्य तदौत्कृष्ट्यं प्रतितत्तथा ॥ २६ ॥

समष्टिं प्रत्युभौ तौस्त आस्थापरप्रयोगकौ।

धर्मलग्नाः साधका हे स्वीकार्यं च महत्त्वकम् ॥ २७ ॥

टीका—हे महर्षियो योगाभ्यास के रूप में कई प्रकार के क्रियाकृत्य अपनाए जाते हैं। उन सभी का उद्देश्य सीमित को असीम में मिला देने की क्रमशः मनोभूमि तैयार करना मात्र है। तप और योग परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की सफलता शक्य नहीं। योग और तप सामान्य जीवन को उत्कृष्ट बनाने ही की सर्वसुलभ और सार्वजनीन प्रक्रिया है। योग में अपना आपा उत्कृष्टता के प्रति समाप्ति के प्रति समर्पित करना होता है। यह दोनों प्रयोग विशुद्धतः आस्थापरक हैं। हे धर्मपरायण सद्ज्ञान साधको आस्था को समुचित महत्त्व देना चाहिए ॥ २३-२७ ॥

५.२४ प्रज्ञोपनिषद्

योग की दो दिशाधाराएँ हैं। एक में विचार परिष्कार, चरित्रशोधन, संयमसाधन, पुण्य-परमार्थ जैसी ज्ञान-वैराग्य की साधना करनी पड़ती है। यह भक्त संतों का संत सज्जनों का मार्ग है। इस आधार पर जो शक्ति प्राप्त होती है वह आत्मकल्याण एवं लोकमंगल दोनों ही प्रयोजनों में काम आती है। दूसरी धारा है अतीन्द्रिय क्षमताएँ जागृत करके असामान्य स्तर की चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त करना। इसके लिए कितने ही साधना विधान हैं कितने ही मार्ग हैं। इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को जागृत, सशक्त और प्रखर बनाने के लिए उसी प्रकार सोपान निर्धारित हैं जैसे छत पर चढ़ने के लिए जीने की सीढ़ियों में सन्निहत होता है।

राजयोग, हठयोग, लययोग, प्राणयोग, कुंडलिनी योग, चक्रवेधन, ज्ञानयोग, भक्ति योग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि अनेकानेक राजमार्ग निर्धारित हैं। उनमें से प्रत्येक में आरंभ से चलकर अंत तक क्रमबद्ध रूप से निर्धारण अपनाने पड़ते हैं यथा राजयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि की एक क्रमबद्ध योजना है। हठयोग में नाड़ी शोधन, वस्ति, वज्रोली, कपाल भाँति आदि का प्रयोग उस समूचे विज्ञान को स्कूली कक्षाओं की तरह एक के बाद एक को अपनाया जाता है।

यहाँ ऋषि कहते हैं कि योग और तप का अनन्योश्चित संबंध है। तपश्चर्या की आग में कुसंस्कारों को गलाया जाता है और योगसाधना से उसे उपयुक्त ढाँचे में ढाला जाता है। योगाभ्यास द्वारा मानव मन सशक्त एवं सक्षम बनता जाता है साथ ही निर्मल एवं परिष्कृत भी होता जाता है। तपश्चर्या से अचेतन में भरी हुई हठवादी पशु प्रवृत्तियों के कुसंस्कार छूटते जाते हैं और मन निर्मल होने से चित्तवृत्तियों का निरोध स्वयमेव होता जाता है। तप का उद्देश्य आत्मा को तपाना और उसे परमात्मा से मिलने के अनुरूप शुद्ध और तेजस्वी बनाना है एवं योग में मुख्यतया जीव चेतना को ब्राह्मी चेतना के साथ जोड़ देने वाला भावनात्मक एवं विचरणात्मक पुरुषार्थ करना पड़ता है।

शरीर और मनः क्षेत्र में अनेक प्रकार के सूक्ष्म शक्ति केंद्र चक्र, उपत्यिकाएँ, ग्रंथि समुच्चय, प्लेक्सस, नाड़ियों के दिव्य प्रवाह मौजूद हैं। इनमें से कुछ स्थूल शरीर में होते हैं कुछ सूक्ष्म और कारण शरीर में। इन्हीं को जागृत करने के लिए अनेक स्तर की तपश्चर्याएँ एवं योगसाधनाएँ की जाती हैं। कुंडलिनी जागरण एवं सूक्ष्मीकरण की पंचकोशी साधनाएँ तपश्चर्यायुक्त प्रचंड पुरुषार्थ के बल पर ही संभव हो पाती हैं। तपश्चर्या एवं सतत् योगाभ्यास से चित्त जन पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाता है तो साधक की अंतर्प्रज्ञा जागृत होती है। यही सफलता की मूल है और इसी के आधार पर चेतना के

उच्चस्तर तक पहुँचा जाता है।

ऋषि याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं कि योग और तप की साधना से सिद्ध के रूप में परिणति तभी होती है जब इष्ट के प्रति लक्ष्य के प्रति श्रद्धा और विश्वास का भी क्रमिक विकास होता है। प्राण विहीन शरीर को लाश कहते हैं। ठीक इसी तरह आस्था और श्रद्धा के बिना योग और तप-जप और अनुष्ठान मात्र समय का सत्प्रयोजनों में सदुपयोग भर कहा जा सकता है, परंतु इतने भर से चमत्कारी सामर्थ्य अर्जित कर लेना संभव नहीं। लघु को विभु, क्षुद्र को महान, नर को नारायण और पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने की प्राण ऊर्जा जहाँ से निस्सृत होती है वह केंद्र बिंदु है अंतः का श्रद्धा क्षेत्र। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में श्रद्धा और विश्वास को भवानी शंकरों के रूप में मानकर अभ्यर्थना की है। सफलता का मूलाधार यही है।

जरत्कारुरुवाच-

देव! सैद्धांतिकं व्यक्तं विज्ञानं साधनात्मकम्।

भवताऽत्र क्रियापक्षः बोध्योऽभ्यासस्य बोधकः ॥२८॥

टीका—जरत्कारु बोले हे देव साधना विज्ञान का सैद्धांतिक विवेचन आपने अभी हमें स्पष्ट किया। अब इसका क्रियापरक पक्ष और समझाएँ ताकि उन्हें अभ्यास में उतारने का मार्गदर्शन मिल सके ॥ २८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

ऋषिवर्य! मया पूर्व व्याख्यातं यत्तपस्तथा।

योगो नैव विशेषाभिः क्रियाभिर्बाध्यतां गतौ ॥ २९ ॥

आस्था संबद्धतां यातौ पारंपर्यक्रमागताः।

क्रियास्तयोजनानां न सुलभा इति मन्यताम् ॥ ३० ॥

प्रभोरुपवनं विश्वं यदि चोपहृतिं तथा।

जीवनं रम्यतां नेतुं भावमादाय चेष्ट्यते ॥ ३१ ॥

जीवनेऽस्मिंस्तपोयोगौ साध्यावुन्मूलनान्मुने।

दुष्प्रवृत्तेस्तपो, योगः सद्वृत्तेर्वधनश्रमात् ॥ ३२ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, हे ऋषि श्रेष्ठ पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि योग और तप क्रिया विशेष से बँधे नहीं हैं। यदि प्रभु के इस उपवन विश्व को और प्रभु के उपहार इस जीवन को सुरम्य बनाए रखने का भाव रखते हुए चला जाए, तो इस जीवन में ही तप और योग सध सकता है। ऐसी स्थिति में दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन प्रक्रिया से तप वृत्ति और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के प्रयास से योग वृत्ति की साधना सधती है ॥ २९-३२ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि योग और तप किसी क्रिया विशेष से बँधे हुए नहीं हैं। निजी जीवन में आस्थाओं, आकांक्षाओं का परिष्कार एवं कुसंस्कारों का उन्मूलन अपनी भौतिक ललक-लिप्साओं को पैरों तले रौंदकर ईश्वरीय संकेतों

और उच्चस्तरीय आदर्शों का अनुसरण करते रहने से सरलतापूर्वक किया जा सकता है। योगी की मनोभूमि इसी प्रकार की होती है। वह शरीरगत और मनोगत वासनाओं, तृष्णाओं की उपेक्षा करता, उन्हें नगण्य, हेय और महानता के पथ में बाधक मानता है और तीनों ऐषणाओं से छुटकारा पाता है। विश्व को ईश्वर की साकार प्रतिमा मानकर उसके कण-कण में परमेश्वर को देखने वाले हर किसी से प्रेम करते हैं। उनके इस प्रेम में दुलार और सुधार का विवेक सम्मत समन्वय होता है। व्यष्टि, समष्टि और प्रकृति के गतिचक्र को समझकर उसमें अपनी स्थिति कमल पत्रवत् बनाए रहकर रंगमंच पर अभिनय करने वाले नट की तरह सोचा और अपना कर्तव्य पूरा किया जा सकता है। मान-अपमान, हानि-लाभ से विचलित न होकर विनोद की मनःस्थिति बनाए रहकर हर घड़ी आनंद, उल्लास, उमंग, तृप्ति, तुष्टि, शांति का अनुभव किया जा सकता है। अपनी सारी क्षमता सत्कर्मों, सद्विचारों और सद्भावों में नियोजित किए रहने वाला ही वस्तुतः सच्चा योगी और तपस्वी है। निजी स्वार्थपरता को परमार्थ परायणता में, व्यक्तिवाद को समूहवाद में, संकीर्णता को उदारता में, निकृष्टता को उत्कृष्टता में विसर्जन समर्पण करके सहज ही योग की विभूतियों से संपन्न बना जा सकता है। संसार के असंतुलन को संतुलन में बदलने, पतन प्रवाह को उत्थान की दिशा में मोड़ने वाले लोकमंगल के लिए समर्पित व्यक्ति को ईश्वर उदारता पूर्वक अपना सारा वैभव सौंप देता है। योग और तप का यही लक्ष्य है।

स्वभाव वैपरीत्याय योऽन्तर्विग्रह - विग्रहः।
तितीक्षाभ्यास इत्युक्तो नवसंस्कारकारकः ॥ ३३ ॥
सत्साहस मुदेत्येवमनर्हाभ्यस्त - नाशकः ।
सद्वृत्तिस्थापकश्चाथमिति जानीहि निश्चितम् ॥ ३४ ॥
सदादर्शान् समुच्छिश्य प्रतियुद्धयन्त एव ये।
अनौचित्यैस्तु गृह्णन्ति काठिन्यं प्रतिकूलताः ॥ ३५ ॥
अभावग्रस्ततां यान्तोऽसहयोगं पदे पदे।
सहन्ते तप एतद्धि त्यागश्चापि मतो बुधैः ॥ ३६ ॥
साहसं शौर्यमेतत् तदाध्यात्मिकमुच्यते ।
बीजं स्थूलांश नाशो हि वृक्षतां याति तत्पुनः ॥ ३७ ॥
तथ्यमेतद् विजानन्ति ये न ते संकुचन्त्यहो।
विभूतीर्मूल्यतः क्रेतुं ब्रह्मवर्चस्तपः श्रितम् ॥ ३८ ॥

टीका—तितीक्षा का अभ्यास आदतों को उलटते समय होने वाले अंतःविग्रह से जूझने के लिए किया जाता है जो नए संस्कारों को उभारता है। इससे सत्साहस उभरता है और अभ्यस्त अनौचित्य के उन्मूलन तथा सत्प्रवृत्तियों के संस्थापन में काम आता है। आदर्शों के लिए अड़ने वाले और अनौचित्य से जूझने वाले स्वेच्छापूर्वक कठिनाइयों तथा प्रतिकूलताओं

का वरण करते हैं। उन्हें अभाव और असहयोग भी सहने पड़ते हैं। इसी को तप-त्याग कहते हैं। यही अध्यात्म क्षेत्र का शौर्य साहस है। बीज के स्थूलांश गलने पर ही उसे विशाल वृक्ष बनने का अवसर मिलता है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे मूल्य देकर विभूतियाँ खरीदने से हिचकते नहीं। तप-तितीक्षा से ब्रह्मवर्चस प्राप्त करने का रहस्य सर्वविदित है ॥ ३३-३८ ॥

तप-तितीक्षा में जान-बूझकर शरीर और मन को कष्ट दिया जाता है जिससे शारीरिक वासना और लौकिक सुखों की कामना मर जाए एवं आत्मभाव प्रकट होने लगे। अहंता गले और जीवभाव से मुक्ति मिले उच्चस्तरीय शक्ति का उत्पादन और अभिवर्द्धन इसी आंतरिक संघर्ष के आधार पर संभव होता है। यही आध्यात्मिक पराक्रम एवं पुरुषार्थ है। आध्यात्मिक ऊर्जा उत्पादित करने के लिए अवांछनीयताओं के प्रति-प्रतिकूलता के प्रति संघर्ष करना होता है। तप साधना यही है। साधना का दूसरा नाम समर है। इस समर में अपने आप से अपनी कमजोरियों, कुसंस्कारों से वासना, तृष्णा, अहंता, लोभ, मोह आदि आंतरिक असुरों से लड़ना पड़ता है। योगी, तपस्वियों, महामानवों ने इसी संघर्ष की तप तितीक्षा में तपकर महानता अर्जित की है। ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्मतेज आत्मा का प्रत्यक्ष प्रकाश इसी आधार पर प्रकट होता है।

जिह्वाचंचलताऽलस्यं मदसेवनकामना ।
उच्छृंखलत्व - कामित्वेऽनियन्त्रित्वं तथैव च ॥ ३९ ॥
उदंडताऽव्यवस्थापव्ययः संकीर्णता स्वता ।
मालिन्यादीनि दृश्यन्ते दुष्प्रवृत्तिषु सर्वदा ॥ ४० ॥
मदस्तरेण तिष्ठन्ति सम्पदां जीवनस्य च।
घुणवन्नाशयन्त्यन्त उद्धतानि च तान्यलम् ॥ ४१ ॥
सापराधानि रूपाणि लभन्ते नाशकानि च।
तीव्रा आगस्करा मंदा दुर्गुणा दुष्प्रवृत्तयः ॥ ४२ ॥
त्याज्यास्तालधुरूपाश्च क्षणाद् वृद्धिप्रयान्त्यपि।
स्फुलिंगः कालमासाद्य दावाग्निरिव नाशकः ॥ ४३ ॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु रोगा इव भयानकाः।
संकटोत्पादिका नूनं मन्यतां तु विभीषिका ॥ ४४ ॥
नोपेक्ष्या जातमात्राणां विनाशः क्रियतां लघु।

वृद्धाः सुदृढमूलाः स्युश्छिन्ना रोहन्ति ताः पुनः ॥ ४५ ॥
टीका—दुष्प्रवृत्तियों में चटोरापन, नशे में दुर्व्यसन, कामुक चिंतन, आलस्य-प्रमाद, अनियमितता, उच्छृंखलता, उदंड उत्तेजना, अपव्यय, अव्यवस्था, मलीनता, संकीर्ण स्वार्थपरता आदि प्रमुख मानी जाती हैं। ये मदस्तर की रहती हैं तो जीवन संपदा को घुन की तरह खोखला करती रहती हैं। जब उद्धत हो जाती हैं तो अपराधों के रूप में विकृत विनाशकारी रूप धारण करती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्गुणों के रूप में मंद हों या

५.२६ प्रज्ञोपनिषद्

अपराधों के रूप में तीव्र, दोनों ही भयावह और त्याज्य हैं। वे प्रारंभ में छोटी भले ही दीखें पर उन्हें बढ़ते देर नहीं लगती। छोटी चिंगारी अवसर पाने पर दावानल बनती, सर्वनाश करती है। दुष्प्रवृत्तियाँ भी बीमारियों की तरह भयानक संकट उत्पन्न करने वाली विभीषिकाएँ ही हैं। इसलिए उनकी उपेक्षा न की जाए। उत्पन्न होते ही उन्मूलन किया जाए अन्यथा बढ़ने पर जड़ें गहरी चली जाती हैं और काटने पर भी फिर उग पड़ने की विपत्ति सामने आती है ॥ ३९-४५ ॥

भगवान ने मनुष्य को असीम शक्ति साधनों से सुसज्जित किया है। शरीर, इंद्रियाँ एवं मस्तिष्क के रूप में उसे जो अनुदान मिले हैं वे अद्भुत एवं अनुपम हैं। उनके सदुपयोग तथा सुनियोजन की फलश्रुतियाँ भी उतनी ही विलक्षण हो सकती हैं। परंतु मनुष्य की संचित कुसंस्कारिता और अदूरदर्शिता उसे अनुपयुक्त छिद्रों में होकर जिधर-तिधर बहा देने को विवश करती हैं और उपलब्ध अनुदानों से समुचित लाभ उठा सकने का सुयोग अकारण ही चला जाता है। जिस तरह दीपक में तेल भरा रहने पर भी हवा का झोंका उसकी ज्योति को बुझा देता है ठीक उसी तरह क्षमताओं से संपन्न होते हुए मनुष्य को भी असंयम का दुष्प्रवृत्तियों का झोंका उसे समय से पहले ही बुझ जाने के लिए विवश करता है।

दुष्प्रवृत्तियों का अवांछनीयताओं का आरंभ जिह्वा के चटोरेपन से होकर जहाँ तक जगह मिलती है वहाँ तक बढ़ता जाता है। जिह्वा को चटोरी बनाकर अनावश्यक मात्रा में भक्ष्य-अभक्ष्य करते रहने वाले अपना पाचन तंत्र बिगाड़ते और रोगों से आक्रांत होते हैं। शराब, सिगरेट, मार्फीन, कोकीन, चरस, हसीस, हेरोइन आदि घातक नशाओं का सेवन दिखावेअ और जिह्वा को उसका रसास्वादन कराने से आरंभ होता है और अंततः सेवन करने वाले को खोखला करके मृत्यु शैय्या पर ला पटकता है। जीभ का चटोरापन कामुकता भड़काता है। जननेंद्रिय मार्ग से बहुमूल्य जीवन रस नलियों में बहाते रहने वाले किस प्रकार अपनी जीवनी शक्ति और बौद्धिक क्षमता गँवा बैठते हैं यह किसी से छिपा नहीं है। अन्यान्य इंद्रियों के दुरुपयोग के संबंध में भी यही है। यह मनोविकार अकेला नहीं हैं। इनकी एक पूरी सेना है। जहाँ एक चलता है वहाँ साथी संगतों की पूरी बारात चल पड़ती है। वासना, तृष्णा और अहंता का समुदाय है। लोभ, मोह और क्रोध का एक समूह है। यह सब आपस में गुथे हुए हैं। एक के साथ दूसरा चलता है। जहाँ वासना भड़केगी, वहाँ तृष्णा भी पीछे न रहेगी। लोभ-लालच में मन भटकेगा। संपदा की ओर मन ललचाएगा और धन संग्रह के लिए, अहंकार की पूर्ति के लिए नीति-मर्यादा का उल्लंघन करना पड़ता है। उद्वंडता बरतने और उच्छृंखल आचरण करने वाले झूठ, हत्या, बेईमानी

जैसे कुकृत्य करने लगते हैं। उन्हें ऐसा करने में भय, लज्जा, संकोच का अनुभव नहीं होता, वरन रस आने लगता है और रस की कोई सीमा नहीं होती कि वह अमुक सीमा तक पहुँचकर तृप्त कर देगी। जीव से आरंभ हुआ दुष्प्रवृत्तियों का रसास्वादन मन सहित इंद्रियों की ललक लिप्साएँ भड़काने लगता है। फुलझड़ती में माचिस लगाने के उपरांत एक के बाद दूसरी चिंगारी छूटने लगता है और फिर ऐसा तमाशा बनता कि पूरे खेल का सफाया करने के उपरांत ही समाप्त होता है। अतः यहाँ ऋषि कहते हैं कि दुष्प्रवृत्तियों को आरंभ में ही, जब वे विचारों के रूप में अंकुरित हो रही हों, तभी सद्विचारों की सेना के माध्यम से समाप्त कर देना चाहिए, अन्यथा वे विषवेलि की तरह पनपती, फैलती और विपत्ति का सर्वनाश का कारण बनती है।

स्वभावे दुर्गुणा एवं संति चेत्संस्थिता मुने।

तेषां हानिषु सर्वैस्तु विचारः कार्य एव हि ॥ ४६ ॥

चिन्त्यान्येवं विधान्यत्र सदोदाहरणान्यपि।

दुष्प्रवृत्त्युद्भवार्थैः स्युः परिणामाः स्मृता हि नः ॥ ४७ ॥

एवं - विधश्च तर्काणां तथ्यानामपि संग्रहः।

कर्तव्यो दुर्गुणा येन स्युरस्त्रेण पराजिताः ॥ ४८ ॥

एकदैव न चेत्त्याज्या दुर्गुणाः स्युस्तदाशनैः।

मात्राणामून्या शक्यस्तेषां नाश - दिशोदयः ॥ ४९ ॥

यो मनस्वी तपस्वी स सहसैकपदे तु तान्।

संकल्पशक्तितैक्ष्ण्याद्धि विदधाति तिरस्कृतान् ॥ ५० ॥

टीका—हे मुनिवर इस प्रकार के दुर्गुण यदि स्वभाव में सम्मिलित हों तो उनकी हानियों पर विचार करना चाहिए। ऐसे उदाहरण चिंतन में लाने चाहिए जिनसे दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणामों का स्मरण बना रहे। ऐसे तर्क और तथ्य संग्रह कर रखने चाहिए जिन्हें दुर्गुणों को परास्त करने में शस्त्र की तरह प्रयोग किया जा सके। दुर्गुणों को एकबारगी छोड़ सकना संभव न हो तो उनकी मात्रा घटाते हुए भी क्रमशः समाप्त करने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। तपस्वी-मनस्वी तो संकल्पशक्ति की प्रखरता के सहारे एक बार में ही उनका तिरस्कार, बहिष्कार कर सकते हैं ॥ ४६-५० ॥

महानता अर्जित करने के लिए स्वभाव में सम्मिलित दोष-दुर्गुणों की बुराइयों एवं उनसे होने वाली हानियों को समझना और उन्हें बुहार बाहर करना अनिवार्य है। इससे संबंधित तर्क, तथ्य और प्रमाण एकत्रित करके सहज ही दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाया जा सकता है। अणुव्रत के रूप में एक-एक करके दोष-दुर्गुणों को छोड़ते रहने और उसके स्थान पर एक-एक अच्छाई का सत्संकल्प करते रहने से धीरे-धीरे अपना पूरा परिष्कार किया जा सकता है। संकल्प बल और विचारणा की सृजनात्मक क्षमता से जो परिचित हैं

वे तत्परतापूर्वक अपनी कमजोरियों को ढूँढ़ निकालते और उनसे छुटकारा पाने में समर्थ होते हैं। संकल्पशक्ति के रूप में मनुष्य को मिला वरदान इतना सामर्थ्यवान है कि उसके आधार पर वह भौतिक अथवा आत्मिक किसी भी क्षेत्र में प्रगति कर सकता है और मार्ग में आने वाली बाधाओं-प्रतिकूलताओं तथा अपने दोष-दुर्गुणों को पैरों तले रौंदकर आगे बढ़ सकता है। तपस्वी-मनस्वी यही प्रक्रिया अपनाते और आत्मोन्नति करते हैं।

श्रमशीलत्व - शालीनत्वे तथा सहकारिता।

मितव्ययत्वसंघर्ष - शीलते सत्प्रवृत्तिषु ॥ ५१ ॥

जीवनव्यवहारे तु योक्तुं युक्ततरं ध्रुवम्।

पञ्चशीलसुशब्देन स्मृतमेतन्मनीषिभिः ॥ ५२ ॥

गजसाहस्रशक्त्या स शीलभावो निरूप्यते।

ईदृशा न परास्ताः स्युर्नता वाग्रे नृणां नराः ॥ ५३ ॥

कार्याणि यानि गृह्णन्ति सफलाः संति तेषु ते।

परिस्थित्यानुकूल्येन व्यवहारेण जीवनः ॥ ५४ ॥

टीका—सत्प्रवृत्तियों में श्रमशीलता, मितव्ययिता, शालीनता, सहकारिता, संघर्षशीलता को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करना बुद्धिमत्तापूर्ण है। इन्हें पंचशील कहते हैं। शील में हजार हाथी के बराबर बल माना गया है। ऐसे लोग न किसी के सामने झुकते हैं, न परास्त होते हैं। जिस काम में हाथ डालते हैं उसी में सफल होकर रहते हैं। परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाना उनके जीवन का व्यावहारिक गुण है ॥ ५१-५४ ॥

जो जीवन को शीलयुक्त बनाएँ, आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त करें, उन्हीं गुणों को ऋषिश्रेष्ठ ने यहाँ पंचशील की उपमा दी है। इसे व्यक्ति निर्माण की, आत्मोत्थान की आचार संहिता भी माना जा सकता है। कोरा तत्त्वदर्शन किसी काम का नहीं, यदि उसे व्यवहार में न उतारा गया हो। व्यवहार में गुण, संपदा, श्रम के प्रतिनिष्ठा, साधनों अर्थसंपदा के, आय-व्यय के संबंध में औचित्य के निर्वाह, वाणी में मिठास एवं सज्जनता, समुदाय का एक अंग होने के नाते परस्पर एक-दूसरे का हित चाहने की भावना तथा अनीति अनौचित्य एवं सड़ी-गली मान्यताओं से मोरचा लेने की क्षमता विकसित करने के रूप में अर्जित की जाती है। व्यक्तित्व विकास के इन्हें पाँच सोपान कहा जा सकता है। जो इतना कर सके समझ लेना चाहिए, उसे आध्यात्म क्षेत्र में प्रगति की प्रथम परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उनकी जानकारी का अभाव या इन्हें व्यवहार में उतार सकने में असमर्थता ही अंततः व्यक्ति की अवगति एवं पतन का कारण बनती है।

नियोजितेन ये मर्त्याः क्रमेण श्रमसंरताः।

न श्लथास्ते परं पुष्टाः प्रखराः सर्वतोदिशः ॥ ५५ ॥

स्वीकृतं कर्तव्यमेवाथ श्रमेणोत्साहपूर्वकम्।

स्फूर्त्या कर्तव्यमेवाथ मनोयोगेन सर्वदा ॥ ५६ ॥

कार्यस्तरं प्रतिष्ठां तां मत्वा चैवानुसञ्चरेत्।

चातुर्येण समग्रेण कार्यं कर्मैवमेव यत् ॥ ५७ ॥

इष्टे सफलताऽवाप्तिर्यशस्वित्वाप्तिरप्यलम्।

क्रियेतात्र च यत्कर्म सत्यं तत्सुन्दरं शिवम् ॥ ५८ ॥

दुष्प्रवृत्तिप्रदं कर्म न कार्यमपि लाभदम्।

सत्यता वयवहारे स्यादास्था कर्तव्यकर्मणि ॥ ५९ ॥

केचिदुष्कर्म कृत्वापि साफल्यं यांति चेन्नहि।

आस्माकमनुकार्यास्ते श्रेष्ठं स्वल्पं वरं भवेत् ॥ ६० ॥

टीका—सुनियोजित क्रम से श्रमरत रहने से कोई थकता नहीं वरन हर दृष्टि से प्रखर एवं परिपुष्ट बनता है। हाथ में लिए हुए काम को परिपूर्ण श्रम, स्फूर्ति, उत्साह और मनोयोग के साथ किया जाए। इस प्रकार समग्र कौशल के साथ कार्य किया जाए तो अभीष्ट सफलता भी मिलती है और कर्ता को यशस्वी बनने का अवसर भी मिलता है। जो भी काम किया जाए, वह आदर्शों की कसौटी पर खरा और लोकोपयोगी होना चाहिए। दुष्प्रवृत्ति बढ़ाने वाला कोई काम न किया जाए, भले ही उसमें कितना ही लाभ क्यों न होता हो। व्यवहार में सचाई और ईमानदारी जुड़ी रहनी चाहिए। दूसरे दुष्कर्म करके सफलता पाते हैं तो अपने को उनका अनुकरण करने की क्या आवश्यकता ? जो किया जाए उत्कृष्टतम किया जाए भले ही थोड़ा क्यों न हो ॥ ५५-६१ ॥

श्रम करने से कोई थकता नहीं। थकता तो तब है, जब उसकी कार्यपद्धति अस्त-व्यस्त होती है, कोई लक्ष्य नहीं होता एवं जो भी कुछ किया जा रहा है उसका क्या प्रतिफल होना है अथवा उत्पादित श्रम का क्या सुनियोजन होना है ? यह निर्धारण नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि जो भी कुछ हाथ में लिया गया है, उसके पीछे भावना जुड़ी या नहीं, कार्य की सफलता को अपने सम्मान, आत्मसत्ता का गौरव मानकर किया गया या नहीं।

श्रम के मूल में भावना प्रधान-भावना ही कर्म को बल देती है। श्रम तो मजदूर भी करता है, मंदिर की ईंटों को जोड़-जोड़कर नक्काशी करते हुए सुंदर रूप दे देता है। पर उसे तो धनराशि से मतलब रहता है जो वह अपनी दिहाड़ी पूरी होते ही पाता है, जबकि एक कलाकार अपना पूरा मनोयोग लगाकर अपने इष्ट देवता की मूर्ति बनाता है। अपने अंतः का सारा सौंदर्य वह उसमें उड़ेल देता है। वह जीती जागती मूर्ति जो अर्जित व्यक्तियों की श्रद्धा का प्रतीक बन जाती है, एक मनोयोग पूर्ण श्रम की ही परिणति है।

प्रतिकूलस्थितौ नित्यमानुकूल्यस्य मार्गणम्।

सर्वस्थितिस्थिरत्वं च धैर्यसाहस-शालिता ॥ ६१ ॥

५.२८ प्रज्ञोपनिषद्

लोभापातत्वमुच्यत्वं मानसं सद्भविष्यतः ।
 आशाया अपरित्यागश्चित्तस्यापि प्रसन्ता ॥ ६२ ॥
 उपायमार्गणं चिन्तास्थाने चा नान्यसंश्रितः ।
 आत्मावलंबनेनाथ पादन्यासः सुयोजितः ॥ ६३ ॥
 लब्धसंतोष-भावश्चाप्यधिकं प्राप्तुमुत्सुकः ।
 गुणास्त्वेवं विधाह्येते यानाश्रित्य नराः सदा ॥ ६४ ॥
 स्थितिष्वपि तु हेयासु स्वल्पसाधन-संयुता ।
 प्रगतेः पथि नित्यं ते चलितुं प्रभवन्त्यलम् ॥ ६५ ॥

टीका—प्रतिकूलता में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए मार्ग खोजते रहना किसी भी स्थिति में असंतुलित न होना, धैर्य और साहस को हर हालत में बनाए रहना, प्रलोभनों में न फिसलना, मनोबल न गिरने देना, उज्ज्वल भविष्य की आशा न छोड़ना, चित्त को प्रसन्न बनाए रहना, चिन्ता करने के स्थान पर उपाय खोजना, दूसरों के सहयोग-समर्थन पर आश्रित न रहकर आत्मावलंबन के सहारे कदम बढ़ाना, जो है उसमें संतोष करना तथा अधिक पाने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना ऐसे सद्गुण हैं जिनके सहारे हेय परिस्थितियों एवं स्वल्प साधनों के रहते हुए भी प्रगति पथ पर निरंतर अग्रसर रहा जा सकता है ॥ ६१-६५ ॥

मानव शावक धरती पर माँ के गर्भ से आता है तो सबसे पहले परावलंबी से स्वावलंबी बनता है। जब तक बच्चा भ्रूण रूप में माँ के गर्भाशय में पल रहा था, तब तक मातृसत्ता उसके भरण-पोषण जीवन को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी थी। अब बाहर आते ही उसे स्वयं श्वास लेना पड़ता है ताकि प्राण वायु अंग-प्रत्यंग तक पहुँच सके। यह स्वावलंबन की प्रक्रिया जीवसत्ता के जीवित बने रहने के लिए अत्यंत अनिवार्य है। यही तथ्य जीवनचर्या के सभी प्रसंगों पर लागू होता है। मनुष्य अपने आपे पर विश्वास न रख साहस खो बैठता है तो जो भी कुछ सामर्थ्य है, उसका भी सुनियोजन नहीं हो पाता। हाथ आए अवसर खोते चला जाता है। किसी और पर निर्भर न रह मानसिक समस्वरता बनाए रखी जाए, मनोबल-संकल्पशक्ति को सतत् सशक्त बनाया जाता रहे एवं दृष्टिकोण विधेयात्मक हो तो एकला चलो रे के सिद्धांत पर चलते रहकर वह निरंतर प्रगति करता रह सकता है। परिस्थितियाँ किसी को भी कभी अनुकूल नहीं मिलतीं। संघर्षशीलता ही जीवन है। धारा को उलटी चीरकर चलने वाले जीवन ही आदर्श बनते एवं दूसरों के प्रेरणा श्रोत बनते हैं।

कालः सर्वोत्तमा संपत्तस्य चांशोपयोगिता ।
 सत्प्रयोजनसिद्ध्यर्थं कर्तव्या सन्ततं मुने ॥ ६७ ॥
 कालं विभज्य कार्यार्थं पालनं तस्य नित्यशः ।
 अस्तव्यस्तः नरेऽभ्यस्ते संयता सफला बहु ॥ ६८ ॥
 काल साधनया नूनं विना कश्चिद् भवेन्नरः ।

महाकालदयायास्तु नाधिकारी क्वचिन्मुने ॥ ६९ ॥

टीका—समय को सर्वोपरि संपदा माना जाए। उसके एक-एक क्षण का सत्प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाए। प्रस्तुत कार्यों के लिए समय विभाजन करके जो इस निर्धारण का तत्परतापूर्वक पालन करते हैं, वे नियमितता के सहारे अस्त-व्यस्त लोगों की तुलना में अनेक गुनी सफलताएँ पाते हैं। हे तात काल-साधना किए बिना कोई, महाकाल की अनुकंपा का अधिकारी नहीं बन सकता ॥ ६७-६९ ॥

काल अर्थात् समय को ही महाकाल कहा गया है। महाकाल जीवन के स्वामी और उसके संहारकर्ता हैं। काल और जीवन एक ही तथ्य के दो नाम हैं। समय की संपदा ही जीवन की निधि है। हर साँस हीरे-मोतियों से तौलने योग्य है। अतः हर पल को बहुमूल्य समझा जाना चाहिए। समय विभाजन करके उसके प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने वाले आलस्य और प्रमाद बरतने वाले एवं समय को कुचक्रों के उलझने में गँवाने वालों की तुलना में अनेक गुनी सफलताएँ पाते और उन्नति के चरम शिखर तक जा पहुँचते हैं। सुनियोजित ढंग से समय का क्रमबद्ध सदुपयोग श्रेष्ठतम प्रयोजनों में करने वाले कम समय में ही इतनी उपलब्धियाँ अर्जित कर सके हैं जितनी सौ-दो सौ वर्ष तक जीकर भी नहीं पाई जा सकती। आचार्य शंकर, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरुष इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

संपन्नतोपमायां तु प्रामाण्यं श्लाघ्यतेतराम् ।
 ऋषे! एतेभ्य उत्साहः सर्वेषां मनसिस्थितः ॥ ७० ॥
 परं मार्गे तु कष्टानि यान्यायान्ति पदे पदे ।
 प्रवृत्तिः साधनायां न जायते तद्भयान्मुने ॥ ७१ ॥
 तपस्वि जीवनात्कष्ट-तितिक्षा वर्धते भृशम् ।
 अतएवोक्तमेतद्यद् योगो नैव तपो विना ॥ ७२ ॥

टीका—संपन्नता की तुलना में प्रामाणिकता की गरिमा कहीं अधिक है। हे ऋषिवर इन सबके लिए मनुष्य के मन में उमंग तो रहती है, पर मार्ग में आने वाले कष्टों के भय से साधना की ओर प्रवृत्ति हो नहीं पाती। तपस्वी जीवन से कष्ट सहने की क्षमता बढ़ती है। इसीलिए कहा गया है कि तप के बगैर योग नहीं सधता ॥ ७०-७२ ॥

व्यक्ति भौतिक दृष्टि से संपन्न हो, पर यह आवश्यक नहीं कि वह प्रामाणिक भी हो। व्यक्तित्व की प्रामाणिकता संपदा से नहीं, चिंतन चरित्र और आचरण की उत्कृष्टता से आती है। यदि चरित्र और आचरण घटिया हो, और आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति संपन्न हो, तो भले ही साधन-संपदा के बल पर वह बड़े-बड़े काम पूरा करने का कौतुक पूरा कर ले, पर उस स्तर के कार्य उससे कदापि नहीं बन पड़ेंगे, जो जनश्रद्धा उभार कर जनसमर्थन जुटा सके, जनसमुदाय के

अंतराल को उद्देलित कर सामयिक आवश्यकता के अनुरूप चलने और रीति-नीति अपनाने पर विवश करे। यह तो व्यक्तित्व और उसके उत्कर्ष का विषय है और उसी की उपलब्धि भी। महामानवों की यही विशेषता होती है। कथनी और करनी की एकरूपता, जीवन की समस्वरता, विचारणा-भावना की उदात्तता और वाणी की मधुरता उनके ऐसे गुण हैं जो व्यक्तित्व की प्रामाणिकता को और प्रखरता प्रदान कर सोने में सुगंध जैसी भूमिका संपन्न करते हैं। भौतिक दृष्टि से तो वे प्रायः उतने ही समर्थ होते हैं, जिससे कि निर्वाह भर की आवश्यकताएँ पूरी होती रह सकें। इतने पर भी देखा यह जाता है कि दूसरों पर वे इतनी गहरी अनुकरणीय छाप छोड़ते हैं कि उनके एक इशारे पर विशाल जनबल हर प्रकार के त्याग-उत्कर्ष के लिए तैयार हो जाता है।

यह सब कुछ धन-दौलत की वरिष्ठता से नहीं व्यक्तित्व की प्रामाणिकता से ही प्राप्त किए जा सकते हैं जो कि मानवी गरिमा के अनुरूप भी है। अस्तु, भौतिक संपन्नता की तुलना में आंतरिक संपन्नता ही कहीं अधिक श्रेयस्कर व गरिमामयी है और इसी का संपादन भी किया जाना चाहिए ऋषि यहाँ इसी बात पर बल देते हैं।

व्यवस्था बुद्धिमाश्रित्य स्वल्पैरपि च साधनैः ।

प्रयोजनानि पूर्याणि बृहन्त्यपि न नाञ्जसा ॥ ७३ ॥

सावधानत्व - भावस्य परीक्षा कौशलस्य च ।

निकषे हि भवत्यस्मिन् कलात्वं सुव्यवस्थितिः ॥ ७४ ॥

अस्तव्यस्तत्व भावस्तु कुरूपत्वस्य बोधकः ।

यददृष्ट्वा व्यक्तिमानस्य हेयत्वं तु प्रतीयते ॥ ७५ ॥

मनसः कर्मणोऽथापि वचनस्य गभीरता ।

शालीनत्वं व्यवस्था च निकृष्टोत्कृष्टबोधकाः ॥ ७६ ॥

टीका—व्यवस्था बुद्धि के सहारे स्वल्प साधनों से भी बड़े प्रयोजन पूरे किए जा सकते हैं। जागरूकता और कौशल की परीक्षा इसी कसौटी पर होती है। सुव्यवस्था ही सच्ची कलाकारिता है। अस्तव्यस्तता ही कुरूपता है, उसे देखकर व्यक्ति के स्तर का घटियापन प्रतीत होता है। मन, कर्म और वचन की गंभीरता, सुव्यवस्था और शालीनता को देखकर ही किसी के स्तर की श्रेष्ठता-निकृष्टता का भान होता है ॥ ७३-७६ ॥

सुव्यवस्था को कला के अंतर्गत रखा गया है जो कलाकार स्तर के होते हैं, सुव्यवस्था उन्हीं से बन पड़ती है। हर व्यक्ति प्रस्तर के अनगढ़ खंड को प्रतिमा का रूप कहाँ दे पाता है। यदि कोई छात्र लायब्रेरियन की भूमिका संपन्न करना चाहे तो वह उसके बूते की बात नहीं होगी। इसी प्रकार घर की व्यवस्था यदि कोई पुरुष सँभालना चाहे, तो संभवतः वह उसमें उतना सफल नहीं हो जाएगा, जितना कि महिलाएँ।

तात्पर्य यह कि व्यवस्था चाहे किसी भी क्षेत्र की हो, इसके लिए बुद्धिकौशल, जागरूकता के सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। इनके अभाव में वह बात नहीं बन पड़ती, जिससे अस्त-व्यस्तता की कुरूपता मिटने और श्रेय लाभ मिलने जैसा सुयोग बने।

यह तो भौतिक क्षेत्र का संदर्भ हुआ। सामान्य लोगों में आत्मिक क्षेत्र में भी ऐसी ही अस्त-व्यस्तता देखी जाती है। जिस प्रकार मूर्ति की सुगढ़ता-अनगढ़ता के आधार पर कलाकार के स्तर का अनुमान लगाया जाता है, उसी तरह व्यक्ति की दिनचर्या, आहार, व्यवहार, गुण-कर्म स्वभाव, मन, वचन-कर्म और समय का उपयोग इनमें पारस्परिक सामंजस्य को देखकर यह अंदाज लगाया जाता है कि व्यक्ति किस कोटि का है और जीवन में कितना सफल हो सकता है। जन सामान्यों में प्रायः इस क्षेत्र में व्यतिक्रम ही दिखाई पड़ता है, जिससे न तो वे अपने जीवन में कोई कहने लायक सफलता अर्जित कर पाते हैं, न अनुकरणीय-अभिनंदनीय ही बन पाते हैं।

सुव्यवस्थित जीवन में इन्हीं की उपलब्धि की जाती है। व्यवस्थित जीवन के तीन मुख्य आधारों में नियमितता, समय और विचार संयम प्रमुख हैं। यदि जीवन में नियमितता का समावेश न हो, तो वह प्रखरता और प्रतिभा विकसित नहीं हो पाती, जो व्यवस्थित जीवन में दिखाई पड़ती है। इसीलिए नियमितता को जीवन का पारस कहा गया है। समय इसका दूसरा पक्ष है। यदि जीवन में समय का ध्यान न रखा जाए उसके सदुपयोग की बात न सोची जाए, तो नियमितता निभ नहीं पाएगी। इस प्रकार यदि जीवन में नियमितता और समय दोनों की उपेक्षा हो, तो किसी प्रकार की सफलता की आशा नहीं की जा सकती। नियमितता और समय की ही तरह विचारों का भी व्यक्तिगत जीवन में बड़ा महत्व है। विचार संयम न बन पड़े, वह इधर-उधर भटकता रहे, तो किसी भी काम को मनोयोगपूर्वक नहीं किया जा सकता। और जब कार्य में तत्परता न हो, गुणवत्ता न हो, तो उसके परिणाम भी उसी स्तर के मिलेंगे।

अस्तु उपरोक्त तीन गुण ऐसे हैं जो जीवन को सुगठित, सुव्यवस्थित बनाते हैं। सुव्यवस्था ही जीवन देवता की सच्ची आराधना है। जो यह आराधना सफलतापूर्वक कर पाते हैं, वही जीवनकला के सच्चे कलाकार कहलाने के श्रेयाधिकारी बनते हैं। ऋषि यहाँ यही स्पष्ट करना चाहते हैं।

न्यायाप्ताजीविकायास्तु वर्धने गौरवं वरे ।

अर्जितं विनियोक्तव्यं प्रज्ञा सदुपयोगके ॥ ७७ ॥

श्रेयः पथस्य ये संति साधकास्ते प्रदर्शने ।

स्वेभ्योऽतिरिक्त वित्तस्य सञ्चयेऽस्युर्गतेषणाः ॥ ७८ ॥

५.३० प्रज्ञोपनिषद्

टीका—न्यायोपार्जित आजीविका बढ़ाने में गौरव है, किंतु बुद्धिमानी इस बात में है कि उपार्जन का एक-एक कण मात्र श्रेष्ठतम सदुपयोग में ही नियोजित होता रहे। श्रेयपथ के साधकों को चाहिए कि आडंबरों में खरच करने अथवा मोहवश अपनों के लिए अतिरिक्त धन छोड़ जाने के मोह से बचें ॥ ७७-७८ ॥

विधाता ने मनुष्य में बुद्धि का समावेश इस आशा से किया है कि वह समझदारी से काम कर सके और अपनी गरिमा बनाए रख सके। मानवेतर प्राणियों में इसका सर्वथा अभाव है। वे प्रकृति-प्रेरणा पर आश्रित रहते हैं। जीवनचर्या संबंधी उन्हें किसी तरह की छूट नहीं रहती और ढर्रे की जिंदगी जीते हैं, पर मनुष्य के साथ ऐसी कोताही नहीं की गई है। उसे स्वतंत्र स्वच्छंद जीवन जीने की पूरी छूट है, पर यह छूट मानवी गरिमा की परिधि तक में ही सीमाबद्ध है। इससे आगे बढ़ जाना उच्छृंखलता हुई और मानवी गरिमा के प्रतिकूल भी।

उपार्जन और संचय के संबंध में भी यही बात लागू होती है। भगवान ने अनेक प्रकार की स्वतंत्रता के साथ ही उपार्जन और संचय की भी मनुष्य के साथ उदारता बरती है। उसे पूरी स्वतंत्रता दी है, चाहे वह कितना भी उपार्जन और संचय करें, किंतु साथ में एक अनुबंध भी है कि उस उपार्जन और संचय का श्रेष्ठतम सदुपयोग हो। स्वयं पर मनुष्य उतना ही खरच करे जितना सामान्य स्तर की जिंदगी के लिए आवश्यक है और शेष विराट ब्रह्म की सेवा में लगाए सृष्टि की ओर से मानवी-गरिमा के अंतर्गत उपार्जन और उसके व्यय का ही निर्धारण है। परंतु हम में से अधिकांश इस क्षेत्र में उपेक्षा ही बरतते देखे जाते हैं। हम उपार्जन तो करते हैं, संग्रह भी करते हैं, परंतु उसका सदुपयोग हमसे नहीं बन पड़ता। उपार्जन का उपयोग हम अपनी ही साधन-सुविधा बढ़ाने में करते हैं और संचय को भावी-पीढ़ी के लिए छोड़ करते हैं। यह विशुद्ध स्वार्थ हुआ निम्नस्तरीय स्वार्थ। उच्चस्तरीय स्वार्थ उसे कहते हैं जो परमार्थ परक हो। साधन-सुविधा की दृष्टि से, उन्नति-प्रगति की दृष्टि से जितना ध्यान हम स्वयं पर देते हैं, उतना ही अन्यो पर भी दिया जाए, यही उच्चस्तरीय स्वार्थ हुआ और इसका क्रियान्वयन उपार्जन का श्रेष्ठतम सदुपयोग। ऋषि यह तथ्य यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं।

सत्प्रवृत्त्युदयायास्ते स्नेह आवश्यको यथा।

दुष्प्रवृत्तिं निरोद्धुं प्रखरताऽपेक्ष्यते तथा ॥ ७९ ॥

अनर्हेण ममत्वेन विकारो जायते तथा।

सुसंस्कारधिया न दुर्व्यवहारोऽपि चेष्टदः ॥ ८० ॥

स्नेहसंस्कारहेतोर्त्यः व्यवहारः स सर्वदा।

संयतश्च विवेकेन युक्तः कार्यो नैर्मृने ॥ ८१ ॥

इदं सन्तुलनं लोकजीवनस्यास्ति निश्चितम् ।

श्रेष्ठाऽथ सार्थकी चापि साधना शास्त्रसम्मतता ॥ ८२ ॥

चिन्तनस्य चरित्रस्य दृष्ट्वा व्यवहृतेस्तथा।

एतस्यां साधनायां स्वं पक्वं संसाधयेत्सदा ॥ ८३ ॥

मार्गेऽस्मिन् योऽभियात्यग्रे यावत्तस्यानुपातिकम्।

गौरवं वैभवं चापि लभते मंगलोन्मुखम् ॥ ८४ ॥

टीका—हे साधको सत्प्रवृत्ति उभारने के लिए स्नेह तथा दुष्प्रवृत्ति निरोध के लिए प्रखरता की आवश्यकता है। अनुचित प्यार से बिगाड़ होता है और सुधार के नाम पर किया गया दुर्व्यवहार भी अभीष्ट उद्देश्य पूरे नहीं करता। प्यार और सुधार के निमित्त किए जाने वाले व्यवहार में विवेक और संतुलन बनाकर रखा जाए। यह संतुलन लोक जीवन की श्रेष्ठ और सार्थक साधना है, साथ ही शास्त्र-सम्मत भी। चिंतन, चरित्र और व्यवहार की दृष्टि से अपने आपको इस साधना में खरा सिद्ध करने की हर किसी को चेष्टा करनी चाहिए। इस मार्ग पर जो जितना आगे बढ़ सकेगा उसे उसी अनुपात में मंगलमय गौरव एवं वैभव की प्राप्ति होगी ॥ ७९-८४ ॥

वीणा के तार को जब अधिक कस दिया जाता है, तो उसकी आवाज बिगड़ जाती है, एवं और अधिक कस देने पर उसके टूटने का भय रहता है। इसी प्रकार यदि उसे आवश्यकता से अधिक ढीला कर दिया जाए, तो भी उसमें वह मधुरता नहीं आ पाती है, जो अभीष्ट होती है। इसके लिए आवश्यक है कि तार को न तो अधिक कसा जाए, न ढीला ही रहने दिया जाए, अर्थात् ऐसी स्थिति में रखा जाए कि जिसमें तनाव और ढीलापन दोनों का समन्वय बना रहे। यह मध्यम स्थिति हुई। इसी स्थिति में उसके स्वर ठीक बने रहते हैं।

यह मानवी जीवन में भी अक्षरशः लागू होता है। बच्चों में सत्प्रवृत्तियों उभारने के लिए प्यार और दुलार का सहारा लेना पड़ता है। उन्हें स्नेहपूर्वक उसके लाभ समझाने पड़ते हैं और यह बताना पड़ता है कि इससे जीवन में महानता आती और सफलता मिलती है। यदा-कदा इसके लिए उन्हें छोटे स्तर के लोभ-लालच भी दिए जाते हैं। पौधों की वृद्धि जब रुक जाती है, तो उन्हें खाद के रूप में अतिरिक्त पोषण देना पड़ता है, किंतु यह पोषण इतना अधिक न हो जाए कि पौधा समय से पहले ही इतना बढ़ जाए कि वह अपना भार ही न सँभाल सके और गिर पड़े। बच्चों के मामले में भी इसका ध्यान रखना पड़ता है। लाड़-प्यार इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि वह निरंकुश हो जाए और अपनी मनमर्जी चलाए।

इसी प्रकार यदि उसके अंदर दुष्प्रवृत्तियाँ पनपने लगें, तो कड़ाई आवश्यक हो जाती है। पौधों में जब अनावश्यक

शाखाएँ निकल पड़ती हैं, तो उसकी शोभा बिगड़ जाती है, अस्तु उन्हें काट-छाँटकर निकालना पड़ता है, पर ऐसा करते वक्त ध्यान यह रखना पड़ता है कि कतर-व्योत इतना अधिक न हो जाए कि पौधा टूट जैसी स्थिति में पहुँच जाए। बालकों के साथ भी इसका ध्यान रखना पड़ता है। अधिक शासन, पाबंदी व कड़ाई रखने से बालक टूटने लगते हैं, उनकी आंतरिक वृद्धि रुक सी जाती है। फिर वे किसी कार्य में स्वतंत्र निर्णय लेने से कतराने लगते हैं और दबू प्रकृति के बन जाते हैं, अथवा कभी-कभी उस बंधन को तोड़कर बाहर आ जाते हैं एवं अभिभावक की चिंता न कर बगावत कर बैठते हैं। अतः कड़ाई तभी होनी चाहिए जब उसकी आवश्यकता महसूस हो। इमरजेंसी और राष्ट्रपति शासन हर वक्त नहीं लगाए जाते। जब स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाती है, तभी इनका प्रयोग किया जाता है। शासन को इससे दोहरा लाभ होता है स्थिति भी सँभल जाती है तथा इनकी गरिमा भी बनी रहती है, किंतु यदि लंबे काल तक ऐसे शासन लगे रहें तो संभवतः लोग फिर इनकी परवाह किए बिना अपने पुराने ढर्रे पर आ जाएँगे।

अतः ऐसे प्रकरणों में सदा संतुलन जैसी स्थिति बनाए रखनी पड़ती है। स्नेह और कड़ाई के पलड़ों को बराबर रखना पड़ता है। किसी भी ओर का पलड़ा झुकने पर कार्यसिद्धि संदेहास्पद बन जाती है ऋषि इसी का संकेत इन पंक्तियों में कर रहे हैं।

साधनास्ता व्यक्तिगामिस्तैरैभि - नियोजयेत्।

पारिवारिकगैश्चापि मुने सामाजिकैः स्तैरैः॥ ८५॥

संघस्तरेण चैतानि योक्तुं वृत्तिरपेक्ष्यते।

सहयोगस्य सर्वेषां योगपादस्तु यः स्मृतः॥ ८६॥

यो न दातुं न वा प्राप्तुं सहयोगं नरोऽर्हति।

असाध्यस्तस्य योगोऽस्ति निश्चितं ज्ञायतां मुने॥ ८७॥

टीका—इन साधनाओं को व्यक्तिगत स्तर पर भी चलाना चाहिए तथा पारिवारिक-सामाजिक स्तर पर भी। सामूहिक स्तर पर इन्हें चलाने के लिए सहयोग वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। हे जिज्ञासुओ सहयोग को योग का ही प्राथमिक चरण माना गया है। जिसे सहयोग पाना या देना कठिन लगता है, उसके लिए योग भी असाध्य है, हे मुनिवर यह निश्चित समझ लें॥ ८५-८७॥

सह अर्थात् साथ और योग अर्थात् जोड़ना अर्थात् स्वयं को दूसरों के साथ जोड़ना ही सहयोग है। योग इससे आगे की स्थिति है। इससे आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़ा जाता है, अतः बड़े स्तर का पराक्रम करना पड़ता है, आत्मपरिष्कार जैसी भूमिका संपादित करनी पड़ती है, तभी यह सफल हो पाता है। किंतु सहयोग में उदारता और करुणा

जैसे मानवी गुणों के विकास से भी काम चल जाता है। परिवार के सदस्यों की सहायता तो अपना सगा-संबंधी होने के नाते आवश्यक कर्तव्य मानकर करना पड़ता है अतः इन गुणों के न भी रहने से पारस्परिक सहयोग सहकार अजस्र रूप से चलता रहता है, परंतु अपने परिकर से बाहर भी यदि यह क्रम चलाना हो, तो इसके लिए अपने भीतर उन मानवोचित गुणों को विकसित करना आवश्यक होता है, जिससे परदुःख कातरता बन पड़े, जिसका अंतराल सूखा होता है, दुखितों-पीड़ितों को देख कर भी नहीं द्रवित होता, उससे सहायता भी कहाँ बन पड़ती है। चोर-डाकू आए दिन लोगों का नुकसान करते रहते हैं, नृशंसतापूर्वक रक्तपात और हत्याएँ करते हैं, ऐसे दृश्यों का उन पर कहाँ कुछ प्रभाव पड़ता है, अस्तु दैनिक जीवन में उनसे किसी की मदद भी नहीं बन पड़ती। इसीलिए करुणा उदारता को सहयोग का पर्याय माना गया है और सहयोग को योग का प्रारंभिक चरण, क्योंकि सहयोग में क्षेत्रीय स्तर पर आदान-प्रदान चलाना पड़ता है, जबकि योग में यह आत्मविस्तार बढ़कर विराटब्रह्म के स्तर तक जा पहुँचता है। इसी कारण ऋषि कहते हैं कि जो सहयोग का सफल संपादन कर लेता है, योग उसी के लिए सरल-साध्य पड़ता है।

महर्षिर्याज्ञवल्क्यः स चर्चा कुर्वन् समाप्तिगाम्।

उवाच साधकाः नृणां मार्गमार्गणतंत्रता॥ ८८॥

सैवं तपोयोगयोश्च साधना वरणाय हि।

प्रयोक्तव्येत्थमर्हत्स आत्मकल्याण हेतवे॥ ८९॥

लोकस्यापि हितायेशानुदानानि बलादिव।

आकर्षितानि कर्तुं हि याति चादर्शतां ततः॥ ९०॥

सत्प्रवृत्तिरुपादाय सुखी चापि समुन्नतः।

भवेद् यात्यध एवायं दुष्प्रवृत्तिरतो यदि॥ ९१॥

जगदेतत्समाकीर्णमशुभैश्च शुभैरपि।

तत्त्वैर्योगस्य मार्गस्य पथिकस्तत्र तत्र ते॥ ९२॥

सहायकाः प्रकृत्यैव समाकृष्टाः सदाञ्जसा।

मिलन्तीत्थं नरा यांति सीमामुत्थानपातजाम्॥ ९३॥

टीका—महर्षि याज्ञवल्क्य ने चर्चा का समापन करते हुए कहा हे साधक श्रेष्ठ मनुष्य को अपने मार्ग निर्धारण की जो स्वतंत्रता प्राप्त है, उसे इस प्रकार की तप और योगसाधना के वरण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। ऐसा करके वह अपने लोककल्याण और लोकहित के लिए ईश्वरीय अनुदानों को बलात् आकर्षित कर सकता है तदंतर जगत का आदर्श बन जाता है। सत्प्रवृत्तियाँ अपनाकर वह सुखी समुन्नत बन सकता है और दुष्प्रवृत्तियों की दिशा में चल पड़े तो वह अपने अधःपतन का मार्ग भी स्वयं ही प्रशस्त करता है। यह संसार भले-बुरे तत्वों से भरा पूरा है। जो जिधर चलता है, उसे उस

५.३२ प्रज्ञोपनिषद्

मार्ग में सहायता करने वाले भी स्वभावगत आकर्षण से प्रेरित होकर अनायास ही मिलते रहते हैं और मनुष्य उत्थान-पतन की पराकाष्ठा तक जा सकता है ॥ ८८-९३ ॥

ऋषि कहते हैं कि मनुष्य को जो मार्ग निर्धारण की स्वतंत्रता मिली है, उसका वह दुरुपयोग न करे। वह स्वयं को पहचाने, लक्ष्य जाने और उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-प्रयास करे। वह आत्मा है और आत्मा एक लक्ष्य परमात्मा से मिलन का है, किंतु इस मार्ग में एक बाधा आती है वह है जन्म-जन्मांतरों के संचित कुसंस्कार। जैसे संस्कार होते हैं, मन उसी ओर प्रवृत्त होता है। अतः उस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मन को अंतःकरण को कुसंस्कारों से मुक्त किया जाए। इसके लिए तप और योग स्तर की साधनाएँ बताई गई हैं। तप से अंतःकरण को सुसंस्कारी बनाया जाता है और योग से मन को नए ढाँचे में ढाला जाता है। इतना सब संपन्न कर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के बाद ही ईश्वरीय अनुदानों की साधक पर वर्षा होती है, जिससे उसका आत्मकल्याण तो होता ही है, उपलब्ध विभूतियों से लोककल्याण करते रहकर दुहरा प्रयोजन पूरा करने में वह

सफल होता है। किंतु जो ऐसा नहीं कर पाते, अधोगामी प्रवाह में बह जाते हैं, वह पतन-पराभव के गर्त में जा गिरते हैं, और यह दुर्लभ मनुष्य जन्म गँवा देते हैं।

तृतीयस्य दिनस्येदं पीयूषपरिवर्षणम् ।

यत्तेन सत्रसंस्थास्ते तोषं जिज्ञासवो ययुः ॥ ९४ ॥

भ्रांतिनाशे रहोज्ञाने मनः स्वास्थ्यं कियद्भवेत् ।

इति ज्ञातं समैस्तत्र प्रत्यक्षज्ञानसत्रके ॥ ९५ ॥

सायं सन्ध्यां विलोक्याथ समाप्तिं सत्रमभ्यगात् ।

जिज्ञासवो नमंतश्च कुटीराभिमुखा ययुः ॥ ९६ ॥

टीका—तीसरे दिन की इस अमृत वर्षा से सत्र में सम्मिलित सभी जिज्ञासुओं को बहुत संतोष मिला। भ्रांतियाँ मिटने और तथ्यों की यथार्थता विदित होने पर मन कितना हल्का और प्रसन्न होता है इसका प्रत्यक्ष अनुभव उस ज्ञान-सत्र में उन सभी ने किया। सायंकाल का उपासना-काल निकट आया देखकर नियत समय पर सत्र विसर्जित हुआ और जिज्ञासु वर्ग अभिवंदन प्रक्रिया को पूर्ण करते हुए अपने-अपने कुटीर-पक्षों की ओर चला गया ॥ ९४-९६ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः,
महर्षि जरत्कारु याज्ञवल्क्य संवादे व्यावहारिक तपोयोग इति प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥